

वर्तमान समय में योग का चिकित्सा पद्धति में महत्व

योग के व्यावहारिक एवं क्रियात्मक पक्ष में आयुर्वेद, तंत्र एवं शिक्षण प्रक्रिया में योग की महत्वपूर्ण भूमिका रेखांकित करने के पश्चात् इस अध्याय में हम एक महत्वपूर्ण पक्ष की ओर अपना विवेचन केन्द्रित करना चाहेंगे। स्वस्थ शरीर एवं प्रसन्न मन मनुष्य की प्राथमिक एवं महत्वपूर्ण इच्छा है। वर्तमान युग में मानवीय दिनचर्या मशीनी एवं तनावपूर्ण हो गयी है, वह अनेक शारीरिक एवं मानसिक रोगों से ग्रस्त होकर निवारण विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों में खोजता है। योग मूल रूप से चिकित्सा पद्धति न होते हुए भी इसके यम, नियम, आसन, प्राणायाम इत्यादि अंग एक वैकल्पिक चिकित्सा पद्धति का आधार प्रस्तुत कर सकते हैं या नहीं? प्रस्तुत अध्याय में इन्हीं प्रश्नों का उत्तर खोजने का प्रयास किया गया है।

योग की स्वास्थ्यपरक तथा आध्यात्मिक लाभ स्वतः ही सिद्ध हैं परन्तु योग के द्वारा रोगों की चिकित्सा करना विवाद का विषय है। अब भी कई लोग योग के चिकित्सीय महत्व को नहीं मानते परन्तु विभिन्न योगसंस्थानों में हो रहे प्रयोगों से बहुत से रोगों की सफल चिकित्सा होने से योग को चिकित्सा विधि के रूप में विकसित किया जा रहा है।

जब व्यक्ति रोग से तीव्र रूप से पीड़ित है, वह आराम पाने के लिए, रोग के लक्षणों को दबाने के लिए कुछ भी करेगा, चाहे औषधि का सहारा ले या अन्य कोई उपाय करे, परन्तु योग और प्राकृतिक दृष्टि से यह एक भूल होगी। शरीर में एकत्र एवं संचित विषाक्त तत्वों, रसायनों, अपशिष्ट द्रव्यों, जिनमें प्रधान कोशिकाएं, लसिका तंत्रिका तथा अन्य शारीरिक प्रणालियाँ अवरूद्ध हो गई हैं। उनको साफ कर शरीर को स्वस्थ एवं सन्तुलित करने हेतु रोग प्रकृति का एक प्रयास है।

ये विकार शरीर के क्रियात्मक कार्यों को अस्त-व्यस्त का देते हैं। फलस्वरूप प्राण उर्जाओं के क्षेत्र विकृत हो जाते हैं और रोग प्रकट होता है। शारीरिक उर्जा की विकृति से मन प्रभावित होता है फिर पीड़ा, तनाव और दुःख उत्पन्न होते हैं। शरीर की विकृत प्रक्रियाओं में सुधार लाकर उन्हें स्वभाविक रूप से कार्य करने योग्य बनाने हेतु रोग प्रकृति की एक क्रिया विधि है। अतः इस प्रक्रिया का विरोध न कर इसमें सहयोग देना चाहिए, जिससे कम समय में कम से कम कष्ट और अधिक लाभ के साथ यह सम्पन्न हो जाए।¹ योग से इस उच्च उद्देश्य की प्राप्ति होने से योग को पूरक चिकित्सा के रूप में प्रयोग करने से रोग उत्पन्न ही नहीं हो सकता।

योग केवल आत्म-साक्षात्कार ही नहीं कराता बल्कि यह मनुष्य को आरोग्य लाभ भी प्रदान करता है। अधिकांश रोग मानसिक तनाव के कारण होते हैं। ध्यानयोग के नियमित अभ्यास से मस्तिष्क तनाव-मुक्त हो जाता है, मन प्रफुल्लित रहता है और शरीर हल्का फुर्तीला एवं तेजस्वी बन जाता है तथा बुद्धि प्रखर हो जाती है। ध्यानाभ्यास के फलस्वरूप पापों के भस्म हो जाने से शारीरिक एवं मानसिक रोग स्वतः ही दूर हो जाते हैं और मनुष्य दीर्घायु प्राप्त करता है।² यह ज्ञान अनुसन्धानों द्वारा ज्ञात होने पर वर्तमान समय में योग का चिकित्सा पद्धति में महत्व बढ़ गया है।

योग अपने विभिन्न साधन- भोजन, नियमित जीवन, मानसिक शान्ति और यौगिक अभ्यास व क्रियाओं द्वारा चिकित्सा पद्धति में अहम् भूमिका निभाता है।

1. भोजन:

हमारे जीवन में विद्यमान रक्त में क्षार तथा अम्ल का अनुपात 80 : 20 है। सामान्यतः रक्त का गुण क्षारीय है। अप्राकृतिक भोजन अधिक प्रोटीन, चिकनाई, मांसाहार, तले-भुने पदार्थ, चीनी इत्यादि रक्त को अम्लधर्मी बना देते हैं। यही अम्लता अनेक रोगों का कारण है।³

यौगिक चिकित्सा में आहार का विशेष महत्व है। सामान्यतः भी योगाभ्यासी को आहार के नियंत्रण का पालन करना ही होता है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति का आहार उसकी अवस्था, दिनचर्या, जलवायु आदि पर निर्भर करता है और उसी के अनुरूप उसको सुनिश्चित करना चाहिये। कोई एक आहार-विशेष सबके लिये उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। फिर भी सिद्धान्तः लघु, सुपाच्य, पोषक तथा सत्त्वगुणोत्पादक आहार श्रेयष्कर है। योगशास्त्र में 'मिताहार' (कम भोजन) की महत्ता को बल दिया गया है। बहुभोजन को सर्वदा निकृष्ट कहा गया है। आहार में प्रोटीन की मात्रा अनावश्यक रूप से अधिक नहीं होनी चाहिये। लवण तथा नानाविध तीव्र स्वभाव वाले तथा उत्तेजक खाद्य तथा पेय पदार्थ निषिद्ध हैं। शाकाहारी भोजन ही श्रेयष्कर है। योगशास्त्र ने मनोवैज्ञानिक तथा शारीरिक क्रियात्मक दृष्टिकोण से ही ये आहार संबंधी नियम-सिद्धान्त निर्धारित किये हैं। इनमें किसी धार्मिक या चारित्रिक प्रवृत्ति का सरोकार नहीं है, जैसा कि पाचन संस्थान, यकृत तथा वृक्क आदि मल-विसर्जनक अवयवों पर तथा चयापचय की प्रक्रिया पर अनावश्यक भार नहीं बढ़ता है। सहज एवं सरल भाव से शरीर को पोषण प्रदान करते हुए शरीर व मन को सृजनात्मक रूप से सक्रिय रहने में सहायक होता है।

अतः रुग्णों में भी यौगिक चिकित्सा करते समय उपरोक्त सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए आहार-व्यवस्था करनी चाहिए। आहार ऐसा हो जो पोषण प्रदान करे, मन को प्रसन्न रखे, सुपाच्य हो, शरीरवयवों पर अनावश्यक भार न डाले, उत्तेजना न उत्पन्न करे और अनावश्यक रूप से अत्यधिक मलोत्पत्ति न करे। आहार में प्रमुख रूप से फल-शाक-सब्जी, दुग्ध व अनाज होने चाहिए। भोजन, षड्रसों से युक्त होना चाहिए।⁴

सन्तुलित आहार में 80 प्रतिशत क्षारीय पदार्थ सलाद-गाजर, मूली, टमाटर, प्याज, खीरा, पालक, गोभी, चुकन्दर, नीबू इत्यादि मिर्च-मसालों से रहित उबली हुई सब्जी, मौसम के फल और चोकरसहित आटे की रोटियाँ, हाथकुटा चावल, छाछ, दही, मधु इत्यादि लेने चाहिए। पाश्चात्य माप-दण्ड के अनुसार सन्तुलित भोजन में प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेट तथा विटामिन्स ये चार तत्व होने आवश्यक हैं।

2. नियमित जीवन:

प्रतिदिन प्रातः 4 से 5 बजे जागरण, उषापान, शौच, दन्तधावन, आसन, प्राणायाम, स्नान, सत्संग, स्वाध्याय आदि नित्यकर्म सभी के लिए उपयोगी है। प्रातः काल का भ्रमण शरीर और वृद्धि दोनों को स्वस्थ रखता है। सांयकाल भी 9-10 बजे सो जाना चाहिए। समय पर सभी कार्य करना स्वास्थ्यकारक और इसके विपरीत आचरण रोगोत्पादक है। चिकित्सा के दिनों में यथाशक्ति ब्रह्मचर्य का पालन, स्वस्थ चिन्तन करना चाहिए और प्रसन्न रहना चाहिए। मनुष्य से भिन्न पशु-पक्षी इत्यादि प्रकृति की गोद में स्वाभाविक जीवन व्यतीत करने से रूग्ण नहीं होते। यदि शरीर में कुछ विकार उत्पन्न हो भी जाए तो वे उपवास करके उसे शान्त कर देते हैं। इसी प्रकार खुली वायु, धूप, नदी, पर्वत, झीलें घास के मैदान, मिट्टी, पानी इत्यादि प्राकृतिक साधन अपनाने से शरीर शीघ्र ही आरोग्य लाभ प्राप्त करता है।⁵

3. मानसिक शान्ति:

अन्वेषण से यह विदित हुआ है कि अधिकतर रोग मानसिक अधिक और शारीरिक कम होते हैं। भोजन करते समय क्रोध या शोक के कारण आमाशय सिकुड़ जाता है। क्रोध से शरीर में विष की उत्पत्ति होती है। नपुंसकता भी अधिकतर मानसिक ही होती है। आश्वस्त तथा प्रसन्न रहने से बहुत शीघ्र ही रोग-निवारण होता है। इच्छाशक्ति से जटिल रोगों की चिकित्सा भी सरल हो जाती है। इसलिए तनाव, चिन्ता, क्रोध, शोकादि विकारों से मन को मुक्त रखने का प्रयत्न किया जाए।

4. यौगिक चिकित्सा:

चिकित्सा प्रारम्भ करने से पहले रोग होने के कारण त्रिदोष वात, पित्त और कफ के प्रकोप हेतु एवं उनका प्रशमन तथा शरीर में प्रभावित स्थानों का दिग्दर्शन करना आवश्यक है।

महर्षि चरक ने रोगों के तीन कारण बतलाये हैं - इन्द्रियों का विषयों के साथ असात्म्य (कम या अधिक) संयोग, प्रज्ञापराधबुद्धि की भूलें और परिणाम अर्थात् ऋतुओं का हीनयोग, मिथ्यायोग, विपरीत योग तथा इन्द्रियों की क्रियाओं के कमी, अधिकता या विपरीत आचरण रोग का हेतु है। जैसे ग्रीष्म ऋतु में गर्मी न पड़कर ठण्ड पड़ने लगे तो यह ऋतु का हीनयोग रोगोत्पादन है। अधिक गर्मी पड़ना भी हानिकारक है। ग्रीष्मऋतु में उष्ण पदार्थ तथा सर्दी की ऋतु में ठण्डे पदार्थों का सेवन और ग्रीष्मकाल में गर्मी से डरकर कूलर, बर्फ या अन्य साधनों को अपनाना इत्यादि विपरीत एवं मिथ्यायोग रोगोत्पादन हैं। इसलिये छह ऋतुओं का आनन्द लेते हुए यथाशक्ति प्राकृतिक जीवन बिताना आरोग्यप्रद है।

शरीर की तीन धातु - वात, पित्त और कफ की विषमता ही रोग और समता स्वास्थ्य है। बाल्यावस्था से 16 वर्ष तक शरीर में कफ प्रधान रहता है। 45 से 50 वर्ष तक पित्त एवं इसके पश्चात् वृद्धावस्था में वात की प्रधानता रहती है। इसी प्रकार प्रातः काल कफ, मध्याह्न में पित्त और तीसरे प्रहर में वात प्रकृपित होता है। इसी भाँति हेमन्त-शिशिर ऋतु में कफ का समन्यय होकर बसन्त ऋतु में उसका प्रकोप होने से नजला, जुकाम, सिरदर्द, मन्दाग्नि इत्यादि उपद्रव प्रकट होते हैं। ग्रीष्मकाल में वात समन्यय होने से प्रावृत् (वर्षाऋतु) में प्रकोप होता है। वर्षाकाल में पित्त का संचय होकर शरदऋतु में प्रकृपित होने से मलेरिया, ज्वर इत्यादि उपद्रव उत्पन्न होते हैं। वर्ष में दो बार चैत्र एवं अश्विन कार्तिक में षट्कर्म द्वारा शरीर की शुद्धि कर लेनी चाहिये।⁶

शरीर में तीनों दोषों का स्थान:

मूत्राशय, मलाशय, कटि (कमर) जंघाप्रदेश, पैर, हड्डियाँ और पक्वाशय (नाभि के नीचे का स्थान व आंते) वायु के स्थान है।⁷ वाग्भट्ट ने कान और त्वचा को भी वात स्थानों में माना है। इनमें पक्वाशय वायु का विशेष स्थान है। पित्त के स्थान - स्वेद (पसीना) रस, रक्त, लसिका, नेत्र और आमाशय तथा विशेषतः पक्वाशय पित्त के स्थान

है। आमाशय का निचला भाग पित्त तथा ऊपरी भाग कफ का स्थान है। कुछ आचार्यों के मत में यकृत प्लीहा, हृदय तथा त्वचा भी पित्त के स्थान हैं।⁸ सिर, छाती, ग्रीवा, नाक, जिहवा, हड्डियों के जोड़, आमाशय एवं मेद। इनमें मुख्यतः उरः (छाती) कफ का प्रधान आश्रय है।⁹

इनमें उत्पन्न रोगों में यौगिक चिकित्सा दी जाती है। यौगिक चिकित्सा में बात के शमनार्थ बस्ति (एनिमा) मुख्य साधन है। इसके साथ ही स्वेदन (पसीना लेना) स्नेहन (स्नेहपान और तेल की मालिश) स्वादु, घृत दुग्धमुक्त पदार्थों का सेवन, उष्ण जल, खट्टे और लवण युक्त पदार्थ वात का शमन करते हैं। विरेचन (दस्त लेना), शंख-प्रक्षालन, वमनधौति, कटि-स्नान, मधुर, कषाय और तिक्त पदार्थ पित्तज रोगों को शांत करते हैं। शीतली, सीत्कारी प्राणायाम भी पित्त का शमन करने में सहायक हैं। वमनधौति, दण्डधौति, वस्तधौति, तथा वामक द्रव्य मैनफल, मुलहठी उसारे रेवन्द इत्यादि से कफ की निवृत्ति होती है। इसके साथ ही तेलनेति सूत्रनेति, जलनेति, नाडीशुद्धि प्राणायाम, कपालभाति, भस्त्रिका सूर्यभेदी प्राणायाम, कफज रोगों में लाभदायक है। भोजन में कटु, कषाय एवं तिक्त पदार्थ हितकर हैं।

इसी प्रकार व्यक्तियों की प्रकृति, बल, आयु, देश, काल, स्थान इत्यादि को देखकर ही चिकित्सा करनी प्रशक्त है। साथ में पथ्य का भी पालन करना चाहिये। यद्यपि केवल आसन-प्राणायाम एवं शुद्धि क्रियाओं से अनेक रोगों का निवारण संभव है, परन्तु साथ में खान-पान का ध्यान एवं प्राकृतिक तथा कुछ सीमा तक आयुर्वेदोक्त औषध जड़ी-बूटी का सेवन रोग-निवृत्ति में सहायक साधन रूप में लेना हितकारी है।¹⁰

योग की आध्यात्मिक तथा स्वास्थोन्नयनक उपयोगिता स्वतः सिद्ध है परन्तु योग का विभिन्न रोगों की चिकित्सा में प्रयोग अभी विकसित ही हो रहा है। मूलतः योग कोई चिकित्सा नहीं है। परन्तु पिछले कुछ दशकों में हुए चिकित्सीय अध्ययन एवं प्रयोग इस बात को बल प्रदान करते हैं कि योगाभ्यास द्वारा अनेक रोगों की सफल चिकित्सा की जाती है। कई अवस्थाओं में रोग की औषधीय चिकित्सा के साथ-साथ योगाभ्यास

तथा यौगिक क्रियाओं का प्रयोग एक पूरक एवं सह-चिकित्सा की भूमिका निभाता है। यौगिक क्रियाएँ मूलरूप से निम्नलिखित तीन प्रकार की भूमिका में प्रभावी होती हुई रूग्ण के स्वास्थ्य-लाभ एवं उसके रोगनिवारण में सहायक होती है ।

1. मनोविजय एवं तनाव-शैथिल्य
2. शारीरिक व्यायामन एवं पुनर्स्थापन
3. संशोधन

स्वस्थ व्यक्ति या रूग्ण के शरीर व मन पर उपरोक्त प्रकार के प्रभाव के लिये उपयुक्त यौगिक अभ्यासों तथा क्रियाओं का चिकित्सोपयोगी चयन किया जा सकता है। इसके लिये चिकित्सक तथा योगथिरेपिस्ट को उन-उन यौगिक क्रियाओं के शरीर क्रियायिक प्रभाव का ज्ञान होना चाहिये साथ-साथ उन्हें व्याधि या विकृतिगत परिवर्तनों का भी ज्ञान होना चाहिये, ताकि वे तदनु रूप यौगिक चिकित्सा व्यवस्था का निर्धारण कर सकें। बिना समुचित विचारणा के सभी प्रकार के योगाभ्यास की अनुमति दे देना हानिकारक भी हो सकता है। विभिन्न यौगिक क्रियाओं की विभिन्न व्याधियों में उपयोगिता का मूल्यांकन करने के साथ-साथ यह भी उतना ही आवश्यक है कि इन क्रियाओं के सम्भावित दुष्परिणामों तथा अवस्था विशेषों में अनार्हता का भी आकलन किया जाए। ऐसा करने पर ही एक सफल व सुरक्षित यौगिक चिकित्सा पद्धति का विकास हो सकता है।

लगभग तीन दशकों पूर्व कैवल्यधाम (लोनावाला) में सुप्रसिद्ध योगविद् स्वामी कुवलयाणन्द तथा डॉ. विनेकर में यौगिक चिकित्सा पर अध्ययन एवं प्रयोग करके अपने परिणाम प्रकाशित किये थे। स्वामी कुवलयाणन्द ने योग शास्त्र में वर्णित अवधारणाओं के आधार पर स्वास्थ्य तथा व्याधि की प्रकृति की व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने योग व आयुर्वेद के दृष्टिकोण तथा कार्य पद्धति की समानता पर भी बल दिया तथा अपने अनुभवों के आधार पर यौगिक चिकित्सा का सकारात्मक पक्ष उपस्थित किया।

योग एवं आयुर्वेद के अनुसार लोक तथा पुरुष (ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड) अर्थात् मनुष्य तथा उसका पर्यावरण समान प्रकृति वाले हैं। मनुष्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की एक इकाई है,

उसमें वे ही सभी भाव (पचमहाभूत ब्रह्म) उपस्थित हैं जो संपूर्ण ब्रह्माण्ड की संरचना करते हैं। पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड आपस में सतत एक दूसरे से संपर्क बनाये रखते हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं और पर्यावरण भी सुरक्षित रहता है। इस प्रक्रिया में विषमता आने पर मनुष्य रोगग्रस्त होता है और पर्यावरण भी दूषित व क्षतिग्रस्त होता है। तद्नन्तर ही मानव मन व शरीर में वैषम्य उत्पन्न होता है अर्थात् उसकी पंचभौतिक साम्य अर्थात् त्रिदोषों एवं त्रिगुणों की साम्यवस्था टूटती है। इसे ही आयुर्वेदज्ञ लोग व्याधि कहते हैं। इसकी चिकित्सा का मूलभूत सूत्र है - लोक पुरुष साम्य के साथ-साथ मानव शरीर में पंचभौतिक साम्य पूर्वक धातुसाम्य को पुनः स्थापित करना। संशोधन सशमन पूर्वक सामान्य विशेष सिद्धान्त के आधार पर लोक से ही मन में उत्पन्न वैषम्य को दूर कर साम्य स्थापित करना ही आयुर्वेदीय चिकित्सा है- 'रोगस्तु दोषवैषम्य दोषसाम्यमरोगता'। इसे ही 'प्रकृति-स्थापन' कहते हैं।¹¹

योगशास्त्र में उद्देश्यः

वैभिन्न्य के कारण व्याधि-अवस्था का आयुर्वेदानुसार उल्लेख नहीं है फिर भी तत् सन्दर्भ में उक्त वचन के आधार पर योगशास्त्र मन्तव्य स्पष्ट है। योगशास्त्र मुख्य रूप से मानस तन्त्र होने से यहाँ मनोविकार एवं आध्यात्मिक विकार मात्र का उल्लेख है। वस्तुतः शरीर, मन तथा आत्मा को अलग तो किया नहीं जा सकता। सभी मिलकर ही जीव बनता है। अतः उस संयुक्त इकाई जिसे आयुर्वेद में 'आयु' की संज्ञा दी है का विचार करके ही स्वास्थ्य व व्याधि की कल्पना की गयी है। यह मनोदैहिक इकाई नानाविध- ब्रह्मा तथा आभ्यन्तर 'क्लेशों' के प्रभाव के बावजूद धातुसाम्य बनाये रखने में प्रयत्नशील रहती है। फिर भी क्लेश प्रभाव से मनोदैहिक प्रदूषण (विक्षेप) उत्पन्न होते हैं। ये 'विक्षेप' कम हों तो स्वतः दूर हो जाते हैं, अन्यथा इनके लिए चिकित्सीय उपाय करने होते हैं। योग-युक्ति का यही उद्देश्य है। व्याधि भी 'विक्षेप' है और उन्हें दूर करने के लिये योग-युक्ति का विधान है। इससे शरीर को स्वतः स्वास्थ्य लाभ में गति प्राप्त होती है। आयुर्वेद व योग

दोनों ही 'स्वभावोपरमवाद' में विश्वास करते हैं और उनकी मान्यता है कि प्रकृति ही स्वभाव है विकृति नहीं। अतः मनुष्य स्वभावतः ही विकृति से उबर कर प्रकृति या स्वास्थ्य की ओर अग्रसर होता है। चिकित्सा केवल सहायक मात्र है। जीर्ण व्याधियों में स्वतः स्वास्थ्य लाभ सम्बन्धी क्षमता सम्भवतः शिथिल पड़ जाती है और चिकित्सा अनिवार्य हो जाती है। स्वामी कुवलयानन्द ने उचित ही कहा है कि शरीर में अपेक्षया स्थायी या जीर्ण स्वरूप की व्याधि उत्पन्न होने के दो प्रमुख कारण हैं-

1. शरीर में रक्तसंवहन तथा लसीका संवहन की प्रक्रिया का विकृत होना जिसके कारण आभ्यन्तरांगों में शोथ एवं अवरोधपूर्वक विषमय पदार्थों का अन्दर ही रुक जाना तथा सम्पूर्ण शरीर पर विषवत् प्रभाव पड़ना होता है तथा
2. शरीर में न्यूरोमस्क्युलर, न्युरोग्लैण्डुलर तथा साइकोन्यूरो - इम्यूनोलॉजिकल प्रक्रियाओं का अव्यवस्थित हो जाना।

वस्तुतः उपरोक्त दोनों प्रक्रिया- श्रृंखलाएँ आपस में एक-दूसरे पर निर्भर हैं और आपस में एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। शरीर में जब इस प्रकार की दृष्टि स्थापित हो जाती है तो उसे मात्र यौगिक चिकित्सा से ही ठीक नहीं किया जा सकता। उसकी उपयुक्त औषधीय एवं शास्त्रप्राणिधानीय चिकित्सा करनी ही चाहिये। इसके साथ ही साथ विचारपूर्वक आवश्यक यौगिक अभ्यास कराने से अधिक लाभ की सम्भावनाएँ होती है। वस्तुतः आयुर्वेद के समान ही योगशास्त्र में भी यौगिक चिकित्सा के संदर्भ में रोगी के शरीर में आवश्यक प्रतिरक्षात्मक क्षमता उत्पन्न करने पर बल दिया जाता है न कि रोग के कारकों को नष्ट करने पर। साथ-साथ रूग्ण शरीर में धातुसाम्य स्थापित करने के उपाय किये जाते हैं। इसके लिये विभिन्न प्रकार से संशोधन क्रियाएँ तथा प्रकृतिस्थापन एवं स्वनियन्त्रण हेतु शरीर व मन को तैयार किया जाता है। यही नाड़ी शुद्धि है, नाड़ी तन्त्र संवहन व संचार का माध्यम है।

स्वामी कुवलयानन्द के अनुसार यौगिक चिकित्सा निम्नलिखित चार विधाओं के माध्यम से सहायक होती है -

1. उपयुक्त मानसिकता का विकास कर।
2. शरीर-तन्त्र का पुनर्स्थापन करके।
3. स्वास्थ्यकर आहार-विहार।
4. प्राकृतिक संशोधन तथा षट्क्रियाओं की सहायता के आभ्यन्तर-शोधन।

उपरोक्त प्रक्रियाएँ पूर्णरूप से स्वतन्त्र न होकर एक-दूसरे पर निर्भर हैं और प्रायः एक-दूसरे की पूरक हैं। वस्तुतः सब मिलकर प्रभाव सम्पूर्णात्मक ही होता है क्योंकि जैविक इकाई भी शरीर, मन एवं चेतना का संयुक्त रूप है।¹²

यौगिक मनोविजयः

रूग्ण की मानसिकता में गुणात्मक परिवर्तन लाने की दृष्टि से योगाभ्यास की भूमिका प्रमुख है। इसके द्वारा ही अविद्या, अस्मिता एवं राग-द्वेषादि क्लेशों का निराकरण संभव है। इस संदर्भ में सहज व सरल विधि अपनाना ही उचित है। प्रारम्भ में ही अविद्या व अस्मिता के संघर्ष से अच्छा है कि राग व द्वेष से छुटकारा पाया जाये। मानसिकता में बदलाव लाने की दो यौगिक विधाएं हो सकती हैं।

1. वासना-निवृत्ति द्वारा अर्थात् यम-नियम आदि के अभ्यास के माध्यम से वासना की निवृत्तिपूर्वक मानसिकता-परिवर्तन। ज्ञान, भक्ति, कर्म व ध्यानयोग इसमें सहायक है।
2. आभ्यन्तर स्पन्दनिक प्रक्रिया या प्राण स्पन्दन का आवश्यक नियमन करके। यह योगशास्त्रोक्त आसन-प्राणायामादि शरीर-क्रियायिक अभ्यासों की सहायता से ही सम्भव है। यह हठ योग का क्षेत्र है।

वस्तुतः यम-नियमादि के अभ्यास के माध्यम से द्वन्द्व निर्मूलन करना चेतन प्रक्रिया है जबकि आसन-प्राणायामादि के अभ्यास के माध्यम से मानसिकता का गुणान्तराधान अचेतन प्रक्रिया है।¹³ वस्तुतः दोनों प्रक्रियाएं एक-दूसरे की पूरक हैं। इन अभ्यासों से मनुष्य अपने में सहज व सकारात्मक मानसिकता विकसित कर लेता है जो उसे व्याधि से उबारने

में सहायक होती है। मनुष्य रूग्ण रहते हुए भी अनावश्यक मानसिक तनाव, भय व असुरक्षा की भावना से मुक्त होने में समर्थ हो जाता है और विश्रान्ति का अनुभव करते हुए स्वास्थ्य लाभ करता है। ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर मानव शरीर में उपस्थित सहज व्याधिक्रमत्व तथा प्रकृतिस्थापक शक्ति व्याधि के स्वतः शमन में अग्रसर होती है। इस प्रकार योगिक चिकित्सा के सन्दर्भ में मानसिकता के गुणात्मक परिवर्तन की अहं भूमिका है।

क्रिया शरीर-नियमन:

चिकित्सा की दृष्टि से मनोविजय, शरीर शुद्धि, यौगिक आहारपोषण के अतिरिक्त योगाभ्यास का अन्य प्रमुख प्रभाव जिसकी चिकित्सीय भूमिका हो सकती है, वह है- आसन। प्राणायामादि क्रियाओं का क्रियाशारीरिक प्रभाव। स्थूल रूप से ये पाचन तंत्र, रक्तसंवहनतंत्र, श्वसन तंत्र, पेशी तंत्र, नाड़ी तंत्र तथा अन्तः स्त्रावी ग्रन्थि तंत्र इत्यादि तन्त्रों को प्रभावित करते हैं।¹⁴

इसी प्रकार चिकित्सा में योग की दृष्टि से विचार किया जा रहा है-

1. पाचन तंत्र:

- (i) आमाशय तथा छोटी व बड़ी आतों के दीवारों में विशेष संवेदना ग्राहक होते हैं। इनके कारण ही हमें भूख, दाब, वेदना, तापमान, जलन आदि संवेदनाओं का ज्ञान होता है। संपूर्ण पाचन क्रिया सुचारू रूप से हो गयी तो हमारा ध्यान उस क्रिया की ओर जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु यदि किसी कारणवश पाचन क्रिया में बाधा आ गयी तो हमारा ध्यान इन्हीं ग्राहकों के कारण उस तरफ खिंचा जाता है। योगासनादि अभ्यास के समय भी कुछ विशिष्ट पाचन अंगों पर दबाव, तनाव (खिंचाव) आदि से हमारा ध्यान अंदर की ओर मुड़ता है। योगाभ्यास के प्रारंभ में यह आवश्यक भी है।

- (ii) पतले पदार्थ या रसयुक्त आहरद्रव्य या जलयुक्त पदार्थ पेट में जाने के बाद आम तौर पर आधे या 1 घन्टे के बीच में छोटी आंत में प्रवेश करते हैं और उनका शोषण शुद्ध होता है। ठोस पदार्थों का पाचन आमाशय में दो से तीन घन्टों तक चलता है और बाद में बड़ी आंत में प्रवेश करता है। इसलिए योगाभ्यास सुबह खाली पेट (मल विसर्जन के बाद) करना अच्छा होता है या शाम को (दोपहर के खाने के 4-5 घन्टे बाद) करना उचित होता है।
- (iii) धौति का संबंध मुख्यतः अन्नलिका तथा आमाशय से है। निगली हुई धौति (ज्यादा ठोस न होने कारण) 20 मिनट के आसपास आमाशय से छोटी आंत में आने की संभावना होती है। इसलिये ज्यादा से ज्यादा 15 मिनट तक ही धौति को आमाशय में रखना ठीक है। धौति निगलने के 10 मिनट बाद उसे बाहर निकालना शुरू करना चाहिए बस्ति क्रिया गुदा मलाशय तथा बड़ी आंत के प्रदेश को प्रभावित करने के लिए होती है।
- (iv) अश्विनी मुद्रा में हम गुदा के बाह्य स्नायुवलय का ही संकोच तथा प्रसार या शिथिलीकरण करते हैं।
- (v) बहुत सारे आसनों का तथा उड्डियान एवं नौलि का प्रभाव मुख्यत आमाशय बड़ी आंत मूत्राशय पर पड़ता है और उसका असर स्वायत्ताङ्गी केन्द्रों पर पड़ता है।
- (vi) केन्द्रीय नाडी तंत्र का पाचन तंत्र के साथ वैसे तो कोई संबंध नहीं लेकिन स्वायत्त नाडी तंत्र (A.N.S.) के केन्द्र हायपोथैलैमस में होते हैं। वही पर भावनात्मक व्यवहार, मानसिक अवस्था नियंत्रित होती है। इसी कारण तनावग्रस्त एवं अस्वस्थ मानसिक स्थिति बहुत दिनों तक चलती रही तो अम्लता, जलन, अपच और आगे चलकर अल्सर भी हो सकते हैं। इसीलिये अपनी भावनाओं पर नियंत्रण रखिए। खुद को शांत रखिए। यह योगाभ्यास से ही संभव है।

2. रक्त परिभ्रमण तंत्रः

- (i) आसन करते समय हृदयगति बहुत बढ़ना अपेक्षित नहीं है।
- (ii) पद्मासन, वज्रासन में हृदय व रक्त संवहन प्रणाली पर कम से कम कार्यभार रहता है।
- (iii) शरीर और मन अच्छी तरह से शिथिल हो जाये तो मानसिक समाधान एवं शांति मिल सकती है। तब स्नायविक तान भी कम हो जायेगा। इससे रक्त वाहिनियां भी शिथिल हो जाती हैं और रक्त भार तथा हृदयगति भी कम हो सकती है। ऐसी मनोकायिक शांति एवं प्रसन्नता सर्वदा कायम रखना योगाभ्यास से ही संभव है।

3. श्वसन तंत्रः

- (i) प्राणायाम द्वारा हम किसी एक सीमा तक श्वास को दीर्घ कर सकते हैं, छोड़ सकते हैं या रोक सकते हैं, गति बढ़ा भी सकते हैं। छाती या पेट इनमें से कोई भी एक या दोनों का इच्छानुसार श्वसन के लिए इस्तेमाल कर सकते हैं। जिससे इन अंगों की मालिश होकर इन्हें स्वस्थता मिलती है।
- (ii) प्राणवायु प्रदान करने के अलावा नाड़ी तंत्र की जाग्रति सजगता ध्यान या इच्छा इनके संबंध में भी श्वासप्रणाली का योगदान है। इच्छा से किये गये श्वास का और मन का नजदीकी संबंध है और प्राणायाम में इसी का उपयोग कर लिया गया है।
- (iii) हम हमेशा या तो बायीं से या तो दाहिनी नाक (नासिका) से श्वास प्रश्वास करते हैं। एक नासिका करीब बंद होती है तो दूसरी पूर्णतया खुल जाती है। यह चक्र बार-बार 1 से 4 घंटों के बीच चलता रहता है। हमारा ध्यान इस नासिका चक्र की ओर नहीं जाता क्योंकि यह अनैच्छिक रूप से अपने आप होता है, दोनों नासिका बराबर-बराबर खुलीती हैं। यह बहुत कम बार या समय दिखाई देता है। अनुलोम-विलोम प्राणायाम द्वारा योगशास्त्र ने इसका भरपूर लाभ उठाया है।

- (iv) श्वसन तंत्र एक ओर 'प्राण' से जुड़ा है और दूसरी ओर मन से। इसीलिये कहते हैं कि 'श्वसन' हमारे आध्यात्मिक मार्ग की सीढ़ी है या प्राण और मन के बीच एक पुल की तरह है। योगासन द्वारा श्वसन सामान्य होने से शारीरिक, मानसिक शान्ति प्राप्त होती है।

4. स्नायुपेशी तंत्र:

- (i) भावनाओं का परिणाम स्वाभाविक संकोच पर होने के कारण उसका प्रभाव शारीरिक क्रियाओं पर भी होता है। योग रीति से आसन करने से पेशियां और नाड़ी तंत्र एवं मस्तिष्क, इनमें सामंजस्य निर्माण होगा। पेशियों का स्वाभाविक संकोच स्तर सुधरेगा और फिर मनोशारीरिक क्रियाएँ सुचारू रूप से होगी।
- (ii) जब पेशियां आसनों द्वारा शिथिल होगी, स्वाभाविक संकोच कम से कम रहेगा तब ऐसे संयम से मानसिक चिंता व तनाव नहीं होगा। इसीलिए मनोशारीरिक शिथिलीकरण जरूरी है।
- (iii) उड्डियान, नौलि में श्वासपटल, रेक्टस अॅब्डॉमिनल्स इनका उपयोग होता है।
- (iv) बंध और मुद्राओं में किसी विशेष पेशीमंडल या समूह और उनके साथ जुड़ी हुई नाड़ी सूत्रों पर, केद्रों पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण अश्विनी मुद्रा में गुदा के बाह्य स्नायुपेशीमंडल को संकुचित व प्रसारित किया जाता है। जिससे योगासन द्वारा पेशी स्वस्थ होती है।

5. नाड़ी तंत्र:

- (i) रोज के दैनिक व्यवहार में हम हमेशा अपनी इच्छानुसार अर्थात् बड़े मस्तिष्क से काम करते हैं। ऐसे समय, हमारी वैचारिक, विश्लेषणात्मक बुद्धि काम करती है। योगाभ्यास में इस तरह का बड़े मस्तिष्क का हस्तक्षेप अपेक्षित नहीं है। जैसे तैरना, साईकिल चलाना, टायपिंग आदि में खास ध्यान न देते हुए भी हम भी काम कर सकते हैं। जानबूझकर या प्रयत्नपूर्वक कुछ करने की जरूरत नहीं होती

वैसे ही आसन के प्रारंभ से हमारा ध्यान भले ही पेशियों का तान, जोड़ों में आने वाली संवेदनाओं की तरफ जाता हो, बाद में प्राणधारणा या उसके बाद अनन्त की ओर जाने देने से बड़े मस्तिष्क का प्रभाव हट जाता है और लघुमस्तिष्क के नाड़ी केन्द्रों को सुचारू रूप से काम करने की तथा अनैच्छिक नाड़ी संस्थान को भी उसका स्वाभाविक समतोल बनाएं रखने की सहूलियत मिलती है।

- (ii) आसनों में पेशी संकोच के रूप से किये गये प्रयत्न और बड़े मस्तिष्क का हस्तक्षेप कम होते ही अनुकंपी स्वायत्त नाड़ी तंत्र (S.N.S.) का प्रभाव कम हो जाता है। अब भावनाएँ अपना प्रभाव दिखा नहीं सकती। परानुकम्पी स्वायत्त नाड़ी संस्थान (P.N.S.) को काम करने का और शांतता प्रस्थापित करने का अच्छा मौका व पर्याप्त समय मिलता है। इसके फलस्वरूप मनोकायिक शांतता व प्रसन्नता छा जाती है और नाड़ी तंत्र और हृदय का कार्यभार हल्का हो जाता है।
- (iii) आसन प्राणायामादि क्रियाएँ मूलतः नाभि और उसके आसपास के प्रदेश तथा कटिप्रदेश और सुषुम्ना के आखिरी हिस्से पर प्रभाव डालती हैं। वहां पर रक्तसंचार बढता है जिससे नाड़ी तंत्र की शाखाएं संज्ञाग्राहक सशक्त बनते हैं और उत्तेजित भी होते हैं। इन्हीं संज्ञाग्राहकों से आने वाली सर्वथा नई किस्म की संवेगों के कारण नाड़ी केन्द्रों को नयी प्रेरणा मिलती है और वे इन संवेगों को समझने लगते हैं। इसी प्रदेश में परानुकंपी स्वायत्त नाड़ी तंत्र होता है। जिसे नई तरह की उत्तेजनाएं मिलती हैं। उनसे उसका 'मल' दूर होता है। यही नाड़ी शुद्धि है। नई उत्तेजनाएं मिलने से व्यक्ति निःरोगी रहता है।

6. अंतःस्त्रावी ग्रंथि तंत्रः

- (i) हमारी विभिन्न भावनाएं, मानसिक स्थिति (मूड), स्वभाव (नेचर) और अंतःस्त्रावी ग्रंथियों के संप्रेरक का गहरा संबंध है। इन सब का हमारे मनोशारीरिक स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है। शास्त्रीय अनुसंधान द्वारा देखा गया है कि आसन, बंध, मुद्रा

इन यौगिक प्रक्रियाओं का अंतः स्त्रावी ग्रंथियों पर परिणाम होता है। योगाभ्यास का उद्देश्य इन ग्रंथियों के तथा अन्य सभी कार्यों में समत्व निर्माण करना है। जिससे आगे किसी भी प्रकार का रोग उत्पन्न न हो सके।

- (ii) यौगिक शिथिलीकरण, ध्यान आदि से स्वायत्त नाड़ी संस्थान विशेष रूप से संतुलित होता है। फलतः भावनाएं, मानसिक अवस्था इनमें भी समतोल प्रस्थापित होता है। नियमित रीति से योगाभ्यास करते रहने से प्रतिदिन के तान-तनाव स्वायत्त नाड़ी संस्थान का संतुलन नहीं बिगड़ सकते क्योंकि शरीर के भीतरी वातावरण में विशिष्ट संतुलन या साम्यावस्था प्रस्थापित होती है। साधक दिन-व-दिन शांति, प्रसन्नता, आनंद और समाधान की अनुभूति लेता है। मधुमेह, दमा इत्यादि रोगियों को इसलिए राहत मिलती है।
- (iii) योगाभ्यास के साथ साथ जीवनशैली में भी विशिष्ट परिवर्तन आवश्यक है। स्वभाव में आवश्यक परिवर्तन का स्वागत करना चाहिये तब ही अतः स्त्रावी ग्रंथियों के स्त्राव सुचारू रूप से काम कर सकेंगे।¹⁵

यह सुविचारित तथ्य है कि रोगी की चिकित्सा की सर्वोत्कृष्ट विधा वहीं है, जिसमें रोगी की शरीर में सहज उपस्थित रोगहर प्रवृत्ति का ही इस्तेमाल किया जाय अर्थात् उसकी सहज शक्ति को ही जाग्रत करके रोग का निवारण किया जाए न कि एण्टीबायोटिक्स इत्यादि बाह्य औषधि द्रव्यों का अनावश्यक प्रयोग करके। वस्तुतः मानव शरीर एक व्यापक फार्मैसी के समान है, जो स्वयं अपनी आवश्यकता के अनुरूप नानाविधि ड्रग्स तथा केमिकल्स को बनाती रहती है और उपयोग करती रहती है। चाहे वह कार्टिसोन हो या मार्फीन या एण्डार्फिन या कोई भी औषधि द्रव्य हो, सभी शरीर में बनते रहते हैं। अतः इनका बाहर से प्रयोग करने से अच्छा है कि आभ्यन्तर-लाभ का मार्ग प्रशस्त किया जाय और सहज चिकित्सा और स्वास्थ्य-लाभ का मार्ग प्रशस्त किया जाये। इससे रोग-निवारण के साथ-साथ स्थायी स्वास्थ्य लाभ होगा और बाह्य औषधीय

द्रव्यों के प्रयोग से सम्भावित निगेटिव फीडबैक के कारण सहज आभ्यन्तर औषधीय उद्रेचन - क्षमता भी नष्ट नहीं होगी। यह सर्वविदित है कि यदि मनुष्य के बाहर से कोई द्रव्य लगातार दिया जाये जैसे कार्टिसोन, इन्सुलिन इत्यादि तो उनका शरीर में स्वतः उत्पन्न होना बन्द हो जाता है।¹⁶

योग प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा शरीर के सभी अंगों, तन्त्रों को अपने तरीकों द्वारा स्वस्थ बना के रहता है। इसीलिए आजकल चिकित्सा के क्षेत्र में योग अहम् भूमिका निभा रहा है। आजकल बहुत से एलौपैथिक चिकित्सक भी योगाभ्यास करने की सलाह देते हैं। जैसे स्पोण्डलायिटिस में बैकवर्ड आसन करने की सलाह दी जाती है तथा सायनस में जलनेती, सूत्रनेती, जलकपाल भौति करने की सलाह दी जा रही है। मानसिक, शारीरिक तनाव के लिये ध्यानासन तथा श्वासन, योगनिद्रा करवायी जाती है।

इसलिए आज के तनाव जनित वातावरण में योग ही एकमात्र साधन है जो चिकित्सा प्रदान कर साधक को स्वस्थ रखता है। यौगिक क्रियाएं अपनी समग्रता सावधानिया एवं अभ्यास के साथ वैकल्पिक चिकित्सा पद्धति के रूप में विकसित की जा रही हैं। आजकल योग द्वारा रोगों की चिकित्सा में होने वाले प्रयोगों से यह बात भवातीत ध्यान के प्रणेता महर्षि महेश योगी, दिव्य योग मन्दिर ट्रस्ट, हरिद्वार के प्रणेता स्वामी राम देव जी ने अपने योग, ध्यान शिविरों में मानवता के सामने प्रस्तुत कर दिया है।

अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान कि हृदय रोग विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष डॉ. एस.सी. मनचंदा ने बताया कि गलत जीवन शैली, भोजन का असंयम एवं असंतुलन तथा भावों के आवेश-आवेग के कारण बड़ी संख्या में लोग असमय में ही हृदय रोग के शिकार हो जाते हैं। उन्होंने कहा कि हमने पूर्ण वैज्ञानिक पद्धति से अनुसंधान कर यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रेक्षाध्यान एवं योग के द्वारा हम न केवल हृदय रोग या उच्चरक्त चाप जैसी बीमारियों का पूर्ण सफल उपचार कर सकते हैं एवं अपना जीवन सुःखमय बना सकते हैं।

उज्जैन मे हुई 90 डॉक्टरों की गोष्ठी में ख्याति प्राप्त हृदय रोग विशेषज्ञ डॉ. महाजिक एवं डॉ० गवारीकर ने कहाँ कि यदि हम हमारे हॉस्पिटल में भी एक स्वतंत्र विभाग प्रेक्षाध्यान एवं योग का वैकल्पिक चिकित्सा के रूप मे खोले तो मरीजों के साथ चिकित्सकों को भी अच्छा लाभ हो सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, दमा, मधुमेह और योग, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, 2001, पृ0-38।
2. पं0 पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री, योग विज्ञान इन्टरेक्टिव एजुकेशन सिस्टम, प्राइवेट लिमिटेड नाहन (हि0 प्र0), 2002, पृ0-19।
3. डा0 देवव्रत आचार्य, आसन प्राणायाम, गुरुकुलझज्जर, रोहतक, हरियाणा, पृ0-186।
4. प्रो0 रामहर्ष सिंह, योग एवं यौगिक चिकित्सा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी 1999, पृ0-110।
5. डॉ0 देवव्रत आचार्य, आसन प्राणायाम, गुरुकुल झज्जर, रोहतक, हरियाणा, पृ0-188, 189।
6. डॉ0 देवव्रत आचार्य, आसन प्राणायाम, गुरुकुल झज्जर रोहतक, हरियाणा, पृ0-189, 190।
7. चरक सूत्र - 20/8।
8. पूर्वोक्त प्रकरण में उल्हणाचार्य की टीका।
9. चरक सूत्र - 20/8।
10. डॉ0 देवव्रत आचार्य, आसन प्राणायाम, गुरुकुल झज्जर रोहतक, हरियाणा, पृ0-194।
11. प्रो0 रामहर्ष सिंह, योग एवं यौगिक चिकित्सा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 1999, पृ0-105।
12. प्रो0 रामहर्ष सिंह, योग एवं यौगिक चिकित्सा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 1999, पृ0-106, 107।
13. Swami Kuwalyanand and Vinbar, Yogic Therapy, 1963

14. प्रो० रामहर्ष सिंह, योग एवं यौगिक चिकित्सा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 1999, पृ०-107, 108।
15. डॉ० मकरंद मधुकर गोरे, शरीर विज्ञान और योगाभ्यास, कंचन प्रकाशन, कैवल्यधाम, लोनावाला, 1999, पृ०-19, 20, 24, 31, 95, 46, 53, 54।
16. प्रो० रामहर्ष सिंह, योग एवं यौगिक चिकित्सा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1999, पृ०-111, 112।